या है। प्रतिवर्ष अनेक छात्र जैन न्याय की परीक्षा देते हैं और इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन-पाठन जैन-समाज में काफी होता है किन्तु ऐसी उपयोगी पुस्तक का जन-साधारण भी लाभ उठा सकें और विषय जटिलता के कारण छात्र जो परेशानी अनुभव कर रहे थे वह दूर की जा सके, इस ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया था। इस अभाव की पूर्त्ति आज की जा रही है और वह भी ऐसे प्रौढ़ पंडितजी के द्वारा जिन्होंने सैकड़ों की तादात में छात्रों को न्याय-शास्त्र पढ़ाया और 'न्यायतीर्थ' भी बना दिया है।

इस सरल सुबोध विवेचन और अनुवाद द्वारा छात्रों की बहुतेरी परेशानी कम हो जायगी और जो न्याय-शास्त्र को जटिल समझ कर न्याय शास्त्र से दूर भागते हैं उन्हें यह अनुवाद प्रशस्त पथ-प्रदर्शन करेगा। इसके अतिरिक्त जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं वे भी प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर न्यायशास्त्र में प्रवेश कर सकेंगे।

ग्रन्थ का सारांश, विवेचन और अनुवादन कितनी सावधानी पूर्वक हुआ है यह तो पुस्तक के पठन-पाठन से ज्ञात हो ही जायगा जैन न्याय के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या इस पुस्तक में की गई है तथा छात्रों की शंकाओं का सप्रमाण समाधान करने का प्रयत्न किया गया है—यह ऐसी विशेषता है जो छात्रों के लिये [illegible] हितकारी सिद्ध होगी।

[illegible] न्याय ग्रन्थ का ऐसा सुन्दर छात्रोपयोगी संस्करण [illegible] और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

[illegible] में अपना स्थान अवश्य प्राप्त [illegible] हूँ।

[illegible]

[illegible]

अतिशय ये हैं:– (१) अपायापगम-अतिशय (२) ज्ञान-अतिश
(३) पूजातिशय (४) वचनातिशय।

ग्रंथ का प्रयोजन

प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते ॥ १ ॥

अर्थ–प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करने के लि
यह ग्रंथ आरंभ किया जाता है।

प्रमाण का स्वरूप

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥ २ ॥

अर्थ–स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञा
प्रमाण कहलाता है।

विवेचन-प्रत्येक पदार्थ के निर्णय की कसौटी प्रमाण ह
है। अतएव सर्वप्रथम प्रमाण का लक्षण बताया गया है। यह
'स्व' का अर्थ ज्ञान है और पर का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ
तात्पर्य यह है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अप
आपको भी जाने और दूसरे पदार्थों को भी जाने, और यह भ
यथार्थ तथा निश्चित रूप से।

ज्ञान ही प्रमाण है

**अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाण
अतो ज्ञानमेवेदम्।**

अर्थ–ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को स्वीका
करने और त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अतः ज्ञा
ही प्रमाण है।

जैसे घट । सन्निकर्ष स्व-पर के निश्चय में करण नहीं है इस कारण प्रमाण नहीं है ।

सन्निकर्ष स्व-पर-व्यवसायी नहीं है

न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वम्, स्तम्भादेरिवा चेतनत्वात्; नाप्यर्थनिश्चितौ स्वनिश्चितावकरण कुम्भादेरिव तत्राप्यकरणत्वात्॥५॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि स्व-निर्णय में करण नहीं हैं, क्यों ये अचेतन हैं, जैसे खम्भा वगैरह । सन्निकर्ष आदि अर्थ (पदा के निर्णय में भी करण नहीं है, क्योंकि जो स्व-निर्णय में क नहीं होता वह अर्थ के निर्णय में भी करण नहीं होता, जैसे आदि ।

विवेचन-सन्निकर्ष की प्रमाणता का निषेध करने के लि 'वह स्व-पर के निश्चय में करण नहीं है' यह हेतु दिया गया था किन्तु यह हेतु प्रतिवादी-वैशेषिक को सिद्ध नहीं है और न्या शास्त्र के अनुसार हेतु प्रतिवादी को भी सिद्ध होना चाहि हेतु को प्रतिवादी स्वीकार नहीं करता वह असिद्ध हेत्वाभास जाता है । इस प्रकार जब हेतु असिद्ध हो जाता है तब उस को साध्य बना कर उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे हेतु का प्र करना पड़ता है । यहाँ यही पद्धति उपयोग में ली गई पूर्वोक्त हेतु के दो भाग करके दोनों को सिद्ध करने के लिए दो हेतु दिये गये हैं ।

आशय यह है —सन्निकर्ष स्व के निश्चय में करण नहीं क्योंकि वह अचेतन है । जो-जो अचेतन होता है वह-वह निश्चय में करण नहीं होता, जैसे स्तम्भ तथा—

प्रमाण व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह प्रमाण है, जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता; जैसे घट।

समारोप

अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः ॥७॥
स विपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा ॥८॥

अर्थ–अतद्-रूप वस्तु का तद्रूप ज्ञान हो जाना अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है वैसी मालूम हो जाना समारोप कहलाता है।

समारोप तीन प्रकार का है–(१) विपर्यय (२) संशय (३) अनध्यवसाय।

विपर्यय–समारोप

विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः ॥९॥
यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ॥१०॥

अर्थ–एक विपरीत धर्म का निश्चय होना विपर्यय-ज्ञान (समारोप) कहलाता है।

जैसे–सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान होना।

विवेचन–सीप को चांदी समझ लेना, रस्सी को सांप समझ लेना, सांप को रस्सी समझ लेना, आदि इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान को विपरीत या विपर्यय समारोप कहते हैं। इस ज्ञान में वस्तु का एक ही धर्म जान पड़ता है और वह उल्टा जान पड़ता है अतएव यह मिथ्या ज्ञान है–प्रमाण नहीं है।

अर्थ--'अरे क्या है ?' इस प्रकार का अत्यन्त सामान्य ज्ञान होना अनध्यवसाय है ।

जैसे--जाते समय तिनके के स्पर्श का ज्ञान ।

विवेचन--रास्ते में जाते समय, चित्त दूसरी तरफ लगा र से तिनके का पैर से स्पर्श होने पर, 'यह क्या है' इस प्रकार विचार आता है । इसी को अनध्यवसाय कहते हैं । इस ज्ञान अतद्रूप वस्तु तद्रूप मालूम नहीं होती, इस कारण समारोप लक्षण पूर्ण रूप से अनध्यवसाय में नहीं घटता, किन्तु अनध्यवर के द्वारा यथार्थ वस्तु का ज्ञान न होने के कारण इसे उपचार समारोप माना गया है ।

संशय और अनध्यवसाय में भेद --संशय ज्ञान में भी यद्यपि विशेष वस्तु का निश्चय नहीं होता फिर भी विशेष का स्पर्श हो है; परन्तु अनध्यवसाय संशय से भी उतरती श्रेणी का ज्ञान है इसमें विशेष का स्पर्श भी नहीं है और इसी कारण इसमें अ अश भी प्रतीत नहीं होते ।

'पर' का अर्थ

ज्ञानादन्योऽर्थः परः ॥१५॥

अर्थ-- ज्ञान से भिन्न पदार्थ पर कहलाता है ।

विवेचन--प्रमाण के लक्षण बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान अपना और पर का निश्चय करता है वह प्रमाण है । सो यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है ।

विवेचन--प्रकाशवान पदार्थों में दो श्रेणियां देखी जाती हैं-- (१) प्रथम श्रेणी में वे हैं जो अपने-आपको प्रकाशित नहीं करते, सिर्फ दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, जैसे नेत्र। (२) दूसरी श्रेणी उनकी है जो अपने-आपको भी प्रकाशित करते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं, जैसे सूर्य। ज्ञान भी प्रकाशवान पदार्थ है अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान प्रथम श्रेणी में है या दूसरी श्रेणी में ? इस सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

मीमांसक और नैयायिक मत के अनुसार ज्ञान प्रथम श्रेणी में है--वह घट आदि दूसरे पदार्थों को जानता है पर अपने-आपको नहीं जानता। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान अपने-आपको भी जानता है। और दूसरे पदार्थों को भी जानता है।

जब हम हाथी के बच्चे को जानते हैं, तब केवल हाथी के बच्चे का ही ज्ञान नहीं होता, वरन् 'मैं' इस कर्ता का का भी ज्ञान होता है, 'जानता हूं' इस क्रिया का भी ज्ञान होता है और 'अपने ज्ञान से' इस करणरूप ज्ञान का भी ज्ञान होता है।

स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त

कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत ? मिहिरालोकवत् ॥ १७

अर्थ-ऐसा कौन पुरुष है जो ज्ञान के विषयभूत बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष हुआ माने, किन्तु ज्ञान को ज्ञात हुआ न माने ? सूर्य के प्रकाश की भांति।

द्वितीय परिच्छेद

प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन

●●●●

प्रमाण के भेद

तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ॥१॥

अर्थ–प्रमाण दो प्रकार का है–(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष

विवेचन--प्रमाण के भेदों के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। अलग-अलग दर्शनकार प्रमाणों की संख्या अलग-अलग मानते हैं जैसे--चार्वाक--(१) प्रत्यक्ष

बौद्ध-(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान

वैशेषिक-(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम

नैयायिक-(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान

प्रभाकर--(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान (५) अर्थापत्ति

भाट्ट—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान (५) अर्थापत्ति (६) अभाव

चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान कर प्रत्यक्ष की प्रमाणता और अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त वह परलोक आदि का निषेध भी नहीं कर सकता है। अतएव अनुमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है। शेष प्रमाणवादियों के माने हुए प्रमाण प्रत्यक्ष-परोक्ष दो भेदों में ही अन्तर्गत

विषय अर्थात् घट आदि पदार्थ और विषयी अर्थात् नेत्र आदि जब योग्य देश में मिलते हैं तब सर्वप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है। दर्शन महासामान्य अथवा सत्ता को ही जानता है। इसके पश्चात् उपयोग कुछ आगे की ओर बढ़ता है और वह मनुष्यत्व आदि अवान्तरसामान्ययुक्त वस्तु को जान लेता है। यह अवान्तर सामान्य युक्त वस्तु अर्थात् मनुष्यत्व आदि का ज्ञान ही अवग्रह कहलाता है।

ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विशेष की ओर झुकती जाती है, जैसा कि अगले सूत्रों से ज्ञात होगा।

ईहा का स्वरूप

अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा ॥८॥

अर्थ—अवग्रह से जाने हुये पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा ईहा है।

विवेचन -'यह मनुष्य है' ऐसा अवग्रह ज्ञान से जाना गया था। उससे भी अधिक 'यह दक्षिणी है या पूर्वी' इस प्रकार विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान कहलाता है। ईहा ज्ञान 'यह दक्षिणी होना चाहिये' यहाँ तक पहुँच पाता है।

अवाय का स्वरूप

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥९॥

अर्थ—ईहा द्वारा जाने हुये पदार्थ में विशेष का निर्णय हो जाना अवाय है।

विवेचन- 'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिये' इतना ज्ञान ईहा

हो जाता है—'यह दक्षिणी होना चाहिये' इस प्रकार ज्ञान एक ओर
को झुका रहता है। अतएव संशय और ईहा दोनों एक नहीं हैं।

अवग्रहादि का भेदाभेद

कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषादेषां व्यपदेशभेदः ॥१२

अर्थ—दर्शन, अवग्रह आदि में कथंचित् अभेद होने पर
परिणाम के भेद से इनके भिन्न २ नाम दिए गए हैं।

विवेचन—जीव का लक्षण उपयोग है। उसी उपयोग
भिन्न २ अवस्थाएँ होती हैं और वही अवस्थाएँ यहाँ दर्शन, अव
ईहा आदि भिन्न२ नामों से बताई गई हैं। इन अवस्थाओं से उप
की उत्पत्ति और उत्तरोत्तर विकास का क्रम जाना जाता है। जै
प्रत्येक मनुष्य शिशु, बालक, कुमार, युवक, प्रौढ़ आदि अवस्थाओं
को क्रम-पूर्वक ही प्राप्त करता है उसी प्रकार उपयोग भी दर्शन, अव
ग्रह आदि अवस्थाओं को क्रम से पार करता हुआ ही धारणा की
अवस्था प्राप्त करता है। शिशु आदि अवस्थाओं में मनुष्य एक ही है
फिर भी परिणमन के भेद से अवस्थाएँ भिन्न २ कहलाती हैं उसी
प्रकार उपयोग एक होने पर भी परिणमन (विकास) की दृष्टि से
अवग्रह आदि भिन्न २ कहलाते हैं। जैन परिभाषा में इसी को द्रव्या
र्थिक नय की अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद
कहते हैं।

अवग्रह आदि की भिन्नता

असामस्त्येनाप्युत्पद्यमानत्वेनाऽसंकीर्णस्वभावतयाऽनु
भूयमानत्वात्, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकत्वात्, क्रमभावि
त्वाच्चैते व्यतिरिच्यन्ते ॥१३॥

कारण है और मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है। इन दोनों कारणों के मिलने पर उत्पन्न होने वाला तथा संज्ञी जीवों के मन की बात जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय कहलाता है।

सकल प्रत्यक्ष का स्वरूप

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं, निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम्।२३

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि अन्तरंग सामग्री और तपश्चर्या आदि बाह्य सामग्री से समस्त घाति कर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला तथा समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

विवेचन—यहाँ भी सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण और उसके विषय का उल्लेख करके उसका स्वरूप समझाया गया है। जब केवलज्ञान की बाह्य और अन्तरंग सामग्री प्रस्तुत होती है और चारों घातिया कर्मों का क्षय-पूर्ण रूपेण विनाश हो जाता है तब यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान सारे द्रव्यों को और उनकी त्रैकालिक सब पर्यायों को युगपत् जानता है। यह ज्ञान प्राप्त करने वाले महापुरुष केवली या सर्वज्ञ कहलाते हैं। यह ज्ञान क्षायिक है, और सब क्षायोपशमिक।

मीमांसक मत वाले सर्वज्ञ नहीं मानते। इस सूत्र में उनके मत का विरोध किया गया है।

(२) अर्हन्त निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण अविरुद्ध हैं। जो निर्दोष नहीं होते उनके वचन प्रमाण से अ- नहीं होते, जैसे हम सब लोग। (व्यति०हेतु)

(३) अर्हन्त के वचन प्रमाण से अविरुद्ध हैं, क्योंकि उनका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता। जिसका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता वह प्रमाण से अविरुद्ध वचन वाला होता है जैसे रोग के विषय में कुशल वैद्य।

उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ हैं, अन्य कपिल, सुगत आदि नहीं। साथ ही जो लोग जगत्कर्त्ता ईश्वर को ही सर्वज्ञ मानते हैं उनका भी खण्डन हो गया।

कवलाहार और केवलज्ञान

न च कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वं, कवलाहार-सर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ॥२७॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान् कवलाहारी होने से असर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि कवलाहार और सर्वज्ञता में विरोध नहीं है।

विवेचन—दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि कवलाहार करने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इस मान्यता का निषेध करके यहां दोनों का अविरोध बताया गया है। दोनों में विरोध न होने से कवलाहार करने पर भी अर्हन्त हो सकते हैं।

तत्तीर्थंकरबिम्बमिति यथा ॥४॥

अर्थ--- संस्कार (धारणा) के जागृत होने से उत्पन्न होने वाला, पहले जानें हुए पदार्थ को जानने वाला, 'वह' इस आकार वाला, ज्ञान स्मरण है। जैसे वह तीर्थङ्कर का बिम्ब।

विवेचन--- यहां और आगे ज्ञान का कारण, विषय तथा आकार इन तीन बातों का उल्लेख करके उसका स्वरूप बताया बताया गया है।

स्मरण, धारणारूप संस्कार के जागृत होने पर उत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम आदि किसी भी प्रमाण से पहले जाने हुए पदार्थ को ही जानता है और 'वह' (तत्) शब्द से उसका उल्लेख किया जा सकता है। जैसे 'वह (पहले देखीहुई) तीर्थङ्कर की प्रतिमा!'

कुछ लोग स्मरण को प्रमाण नहीं मानते, यह ठीक नहीं है स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान प्रमाण नहीं बनेगा, क्योंकि वह व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है। लेन देन आदि लौकिक व्यवहार भी स्मरण की प्रमाणता के बिना बिगड़ जाएंगे।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ॥५॥

यथा-तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि ॥६॥

पड़ेंगे। कई प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते, पर एकता और सदृशता दूसरे किसी भी प्रमाण से नहीं जानी जाती, अतएव उसे पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।

तर्क का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं, त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनं, 'इदमस्मिन् सत्येव भवति' इत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः॥७॥

यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति, तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येवेति ॥८॥

अर्थ—उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाला, तीन काल सम्बन्धी व्याप्ति का जानने वाला, यह इसके होने पर ही होता है इत्यादि आकारवाला ज्ञान तर्क है ऊहा उसका दूसरा नाम है॥

जैसे—जितना भी धूम होता है। वह सब अग्नि के होने पर ही होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता॥

विवेचन—जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि होती है। इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह अविनाभाव सम्बन्ध तीनों कालों के लिये होता है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निर्णय होता है उसे तर्क कहते हैं। तर्क ज्ञान उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होता है। धूम और अग्नि को एक साथ देखना उपलम्भ है और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव जानना अनुपलम्भ है। बार-बार उपलम्भ और बार-बार अनुपलम्भ होने से व्याप्ति का ज्ञान, तर्क उत्पन्न हो जाता है।

हेतु का स्वरूप

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥११॥

अर्थ-साध्य के बिना निश्चित रूप से न होना, यह एक लक्षण जिसमें पाया जाय वह हेतु है।

विवेचन-साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, अर्थात् जो साध्य के बिना कदापि सम्भव न हो वह हेतु कहलाता है। जैसे-अग्नि (साध्य) के बिना धूम कदापि संभव नहीं है अत एव धूम हेतु है।

मतान्तर का खण्डन

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥१२॥
तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवात् ॥१३॥

अर्थ-तीन लक्षण या पाँच लक्षण वाला हेतु नहीं है। क्योंकि वह हेत्वाभास भी हो सकता है।

विवेचन-बौद्ध लोग पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीन लक्षण जिसमें पाये जावें उसे हेतु मानते हैं। नैयायिक लोग इन तीन में असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधितविषयत्व को सम्मिलित करके पाँच लक्षण वाला हेतु मानते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है:-

(१) पक्षधर्मत्व-हेतु पक्ष में रहे
(२) सपक्षसत्त्व-हेतु सपक्ष (अन्वय दृष्टान्त) में रहे
(३) विपक्षासत्त्व-हेतु विपक्ष में न रहे

(४) असत्प्रतिपक्षता–हेतु का विरोधी समानबलवाला दूसरा हेतु न हो ।

(५) अबाधितविषयता–हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न हो ,

वास्तव में बौद्धों और नैयायिकों का हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं है । इसके दो कारण हैं–प्रथम, यह कि इन सब के मौजूद रहने पर भी कोई-कोई हेतु सही नहीं होता; दूसरे कभी-कभी इनके न होने पर भी हेतु सही होता है । इस प्रकार हेतु के इन दोनों लक्षणों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष विद्यमान हैं ।

साध्य का स्वरूप

अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥१४॥

शंकितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीत वचनम् ॥१५॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृतग्रहणम् ॥१६॥

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम्॥१७।

अर्थ–जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित न हो और जो वादी को मान्य हो, वह साध्य होता है ।

जिसमें शंका हो, जिसे उल्टा मान लिया हो अथवा जिसका

अनध्यवसाय हो वही साध्य हो सकता है यह बताने के लिए सा॰ को 'अप्रतीत' कहा है।

जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित हो वह साध्य हो जाय, यह सूचित करने के लिए साध्य को 'अनिराकृत' कहा है

जो वादी को सिद्ध नहीं है वह साध्य नहीं हो सकता, य॰ बताने के लिए साध्य को 'अभीप्सित' कहा है।

विवेचन—जिसे सिद्ध करना हो वह साध्य कहलाता है। निर्दोष साध्य में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—(१) प्रथम यह कि प्रतिवादी को वह पहले से ही सिद्ध न हो; क्योंकि सिद्ध बात को सिद्ध करना वृथा है। (२) दूसरी यह कि साध्य में किसी प्रमाण से बाधा न हो, अग्नि ठण्डी है; यहाँ अग्नि का ठण्डापन प्रत्यक्ष से बाधित है अतः यह साध्य नहीं हो सकता। (३) तीसरी यह कि जिस बात को वादी सिद्ध करना चाहे वह उसे स्वयं मान्य हो; 'आत्मा नहीं है' यहाँ आत्मा का अभाव जिसे मान्य नहीं है वह आत्मा का अभाव सिद्ध करेगा तो साध्य दूषित कहलायेगा।

साध्य सम्बन्धी नियम

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः ॥१८॥

न हि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥१९॥

आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥२०॥

अर्थ — व्याप्ति ग्रहण करते समय धर्म ही साध्य होता है--धर्मी नहीं; धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती।

जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि की भांति पर्वत (धर्मी) की व्याप्ति नहीं है।

अनुमान प्रयोग करते समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मी (पर्वत) साध्य होता है। धर्मी का दूसरा नाम पक्ष है और वह प्रसिद्ध होता है।

विवेचन—यहां कब क्या साध्य होना चाहिए, यह बताया गया है। जब व्याप्ति का प्रयोग करना हो तो 'जहां जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है' इस प्रकार अग्नि धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए। यदि धर्म को ही साध्य न बनाकर धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति यों बनेगी—'जहां-जहां धूम है वहां-वहां पर्वत में अग्नि है' पर ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है। अतएव व्याप्ति के समय धर्मी (पक्ष) को छोड़ कर धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए।

इसके विपरीत, अनुमान का प्रयोग करते समय अग्नि धर्म से युक्त धर्मी (पर्वत) को ही साध्य बनाना चाहिए। उस समय 'अग्नि है, क्योंकि धूम है' इतना कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना इस अनुमान का प्रयोजन नहीं है, किन्तु पर्वत में अग्नि सिद्ध करना इष्ट है। अतएव अनुमान-प्रयोग के समय धर्म से युक्त पक्ष साध्य बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पर्वत प्रसिद्ध है, अग्नि भी सिद्ध है किन्तु अग्निमान् पर्वत सिद्ध नहीं है अतः वही साध्य होना चाहिए।

तीन प्रकार के हेतु का प्रयोग करके ही उनका समर्थन करने वाला ऐसा कौन होगा जो पक्ष का प्रयोग करना स्वीकार न करे?

विवेचन—बौद्ध पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते। उनके मत का विरोध करने के लिए यहां यह कहा गया है कि अगर पक्ष का प्रयोग न किया जायगा तो साध्य कहां सिद्ध किया जा रहा है, यह मालूम नहीं पडेगा। साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष अवश्य बोलना चाहिए।

पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला, इस पर्वत में भी धूम है।' इस अनुमान में 'इस पर्वत में भी धूम है' यह उपनय है। यहां हेतु को दोहराया गया है। हेतु को दोहराने का प्रयोजन यह है कि साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताया जाय। इसी प्रकार साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष भी बोलना चाहिए।

जैसे हेतु का कथन करने के बाद ही उसका समर्थन किया जा सकता है—हेतु का प्रयोग किये बिना समर्थन नहीं हो सकता उसी प्रकार पक्ष का प्रयोग किये बिना साध्य के आधार का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। (बौद्धों ने स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, यह तीन प्रकार के हेतु माने हैं)

अर्थ-प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाले
चन परार्थ प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उन वचनों से दूसरे को प्रत्यक्ष
ोता है।

जैसे-देखो, सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के
कड़ों से जड़े हुए आभूषणों को धारण करने वाली जिन भगवान्
ी प्रतिमा है।

विवेचन-जैसे अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा
हना परार्थानुमान है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को
ब्दों से कहना परार्थ प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान का
ारण है उसी प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह
रार्थ प्रत्यक्ष भी शब्दात्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अवयव

पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टान्तादिवचनम् ॥२८॥

अर्थ-पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अवयव
ी दूसरों को समझाने के कारण हैं, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विवेचन-परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में अनेक
त हैं। सांख्य लोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अवयव मानते
। मीमांसक उपनय के साथ चार अवयव मानते हैं, और योग लोग
नगमन को इनमें सम्मिलित करके पांच अवयव मानते हैं।

इन सब मतों का निरसन करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही
अवयवों का समर्थन किया गया है, क्योंकि दूसरे को समझाने के

लिए यही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध का विशेष विचार आगे कि
जायगा।

हेतु प्रयोग के भेद

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥२
सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हे
रनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥३०॥

यथा–कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्वे
धूमवत्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥३१॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोग-
स्यैकत्रानुपयोगः ॥३२॥

अर्थ--तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से हेतु दो
प्रकार से बोला जाता है।

साध्य के होने पर ही हेतु का होना (बताना) तथोपपत्ति
है और साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना (बताना) अन्यथा-
नुपपत्ति है।

जैसे--यह पाकशाला अग्निवाली है, क्योंकि अग्नि के होने
पर ही धूम हो सकता है, या क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं हो
सकता॥

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति में से किसी एक का प्रयोग
करने से ही साध्य का ज्ञान हो जाता है अतः एक ही साथ दोनों
का प्रयोग करना व्यर्थ है॥

(एक महानस तक ही सीमित रहता है) उसमें व्याप्ति पूर्ण रूपः
नहीं घट सकती अतएव दृष्टान्त में व्याप्ति सम्बन्धी विवाद उप
स्थित होनेपर दूसरा दृष्टान्त ढूंढ़ना पडेगा, इस प्रकार अनवस्
दोष अनिवार्य होगा ॥

दृष्टान्त, अविनाभाव के स्मरण के लिए भी नहीं हो सकता,
क्योंकि जिसने अविनाभाव सम्बन्ध जान लिया है और जो बुद्धि-
मान् है उसके आगे पक्ष और हेतु का प्रयोग करने से ही उसे
अविनाभाव का स्मरण हो जाता है ॥

विवेचन–दृष्टान्त को अनुमान का अवयव मानने के ती
प्रयोजन हो सकते हैं। (१) दूसरे को साध्य का ज्ञान कराना। (२
अविनाभाव का निर्णय करना और (३) अविनाभाव का स्मर
करना। किन्तु इनमें से किसी भी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त की
आवश्यकता नहीं है; क्योंकि पक्ष और हेतु का कथन करने से साध्य
का ज्ञान हो जाता है, तर्क प्रमाण से अविनाभाव का निर्णय होजाता
है और पक्ष-हेतुके कथन से ही अविनाभाव का स्मरण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त जो दृष्टान्त से अविनाभाव का निर्णय होना
मानते हैं, उन्हें अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा। पक्षमें अवि-
नाभाव का निर्णय करने के लिए दृष्टान्त चाहिए, तो दृष्टांत में
अविनाभाव का निर्णय करने के लिये एक नया दृष्टांत चाहिए उसमें
भी अविनाभाव का निर्णय किसी नये दृष्टान्त से होगा, इस प्रकार
अनवस्था दोष आएगा। क्योंकि दृष्टान्त एक विशेष स्वभाव वाला
होता है अर्थात् वह एक ही स्थान तक सीमित होता है जब कि
व्याप्ति सामान्य रूप है अर्थात् त्रिकाल और त्रिलोक सम्बन्धी
होती है। एक दृष्टान्त में पूर्ण रूपेण व्याप्ति नहीं घट सकती।

प्रकारान्तर से समर्थन

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥३७॥

अर्थ—अन्तर्व्याप्ति द्वारा हेतु से साध्य का ज्ञान हो जाने पर भी या न होने पर भी बहिर्व्याप्ति का कथन करना व्यर्थ है।

विवेचन—अन्तर्व्याप्ति का और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप आगे बताया जायगा। इस सूत्र का आशय यह है कि अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान करा देता है तब बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। और अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान नहीं कराता तो भी बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि बहिर्व्याप्ति प्रत्येक दशा में व्यर्थ है।

अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः; अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥३८॥

यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति; अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थानमिति च ॥३९॥

अर्थ—पक्ष में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति होना अन्तर्व्याप्ति है और पक्ष से बाहर व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति है।

जैसे—वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सत् है, और वह

प्रतिषेध के भेद

स चतुर्धा-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावोऽत्य न्ताभावश्च ॥५८॥

अर्थ-प्रतिषेध (अभाव) चार प्रकार का है--प्रागभा प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव ।

प्रागभाव का स्वरूप

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः॥५ यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि ण्डः ॥६०॥

अर्थ-जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है ।

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने व घट का प्रागभाव मिट्टी का पिण्ड है ।

विवेचन-किसी भी कार्य की उत्पत्ति होने से पहले उ जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। यहाँ सद्रूप मि के पिण्ड को घट का प्रागभाव बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो ज है कि, अभाव एकान्त अभावरूप (तुच्छाभावरूप) नहीं है, कि पदार्थान्तर रूप है। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रध्वंसाभाव का स्वरूप

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वं साभावः ॥६१॥

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमान. कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥६२॥

अर्थ—जिस पदार्थ के उत्पन्न होने पर कार्य का अवश्य विनाश हो जाता है वह पदार्थ उस कार्य का प्रध्वंसाभाव है।

जैसे—टुकड़ों का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से ष्ट हो जाने वाले घट का प्रध्वंसाभाव टुकड़ों का समूह है।

इतरेतराभाव का स्वरूप

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः॥६३॥

यथा स्तम्भस्वभावात् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः॥६४॥

अर्थ—एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न पाया जाना इतरे-रामाव है॥

जैसे—स्तम्भ का कुम्भ में न पाया जाना।

विवेचन—स्तम्भ और कुम्भ—दोनों पदार्थ एक साथ सद्भाव रूप हैं, किन्तु स्तम्भ कुम्भ नहीं है और कुम्भ स्तम्भ नहीं है। इस प्रकार दोनों में परस्पर का अभाव है। यही अभाव इतरेतराभाव, अन्योन्याभाव या परस्पराभाव कहलाता है।

अत्यन्ताभाव का स्वरूप

कालत्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-भावः ॥६५॥

यथा चेतनाचेतनयोः ॥६६॥

अर्थ—त्रिकालवर्ती तादात्म्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं।

विवेचन-एक द्रव्य त्रिकाल में भी दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता जैसे चेतन कभी अचेतन न हुआ, न है और न होगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का त्रैकालिक अभाव पाया जाता है वही अत्यन्ताभाव है। एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायों का पारस्परिक अभाव इतरेतराभाव कहलाता है। और अनेक द्रव्यों का पारस्परिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। प्रागभाव अनादि सान्त है, प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त है, इतरेतराभाव सादि सान्त है और अत्यन्ताभाव अनादि अनन्त है।

उपलब्धि हेतु के भेद

उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्च।६७।

अर्थ—उपलब्धि हेतु के भी दो भेद हैं (१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि।

विवेचन—साध्य से अविरुद्ध हेतु की उपलब्धि अविरुद्धोपलब्धि और साध्य से विरुद्ध हेतु की उपलब्धि विरुद्धोपलब्धि है।

विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के भेद

तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा ॥६८॥

अर्थ-विधिरूप साध्य को सिद्ध करने वाली अविरुद्धोपलब्धि छह प्रकार की है।

[illegible]

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिः ॥६९॥

न हो और जिसके सहकारी अन्यान्य सब कारण विद्यमान हों, ऐ
विशिष्ट कारण को ही हेतु माना गया है, क्योंकि ऐसे कारण के हो
पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है।

(२) बौद्ध स्वयं भी कारण को हेतु मानते हैं। अंधे
रात्रि में (जब रूप दिखाई न पड़ता हो) कोई आम का रस चूसत
है, उस रस से वह रस को उत्पन्न करने वाली सामग्री (पूर्व क्षण-
वर्ती रस और रूप आदि) का अनुमान करता है। यहाँ चूसा जा
वाला रस कार्य है और पूर्वक्षणवर्ती रस रूप आदि कारण हैं। य
कार्य से कारण का अनुमान हुआ। इसके पश्चात् आम चूसने वा
उस कारणभूत रूप से वर्तमान कालीन रूप का अनुमान करता है
यह कारण से कार्य का अनुमान कहलाया। इस प्रकार बौद्ध का
से कार्य का अनुमान स्वयं करते हैं, फिर कारण को हेतु क्यों
मानें ?

शंका—वर्तमान रस से पूर्वक्षणवर्ती रस का ही अनुम
होगा, रस के साथ रूप आदि का क्यों आप कहते हैं ?

समाधान—बौद्धों की मान्यता के अनुसार पूर्वकालीन
और रूप आदि मिलकर ही उत्तर कालीन रस उत्पन्न करते हैं। अ
एव वर्तमानकालीन रस से पूर्वकालीन रस के साथ रूप आदि
भी अनुमान होता है। अलबत्ता पूर्वकालीन रस उत्तरकालीन रस
उपादान कारण होता है और रूप सहकारी कारण होता है। य
नियम स्पर्श आदि के लिए समझना चाहिए। प्रत्येक का
सजातीय के प्रति उपादान कारण और विजातीय के प्रति स
कारी कारण होता है।

शंका—अच्छा, वर्तमान कालीन रूप तो प्रत्यक्ष होता

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रति ॥७३॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति ॥७४॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ॥७५॥

अर्थ—अतीत जाग्रत-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (सोकर जागने के पश्चात् होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी मरण अरिष्ट (अरुन्धती तारा न दीखना आदि) का कारण नहीं है, क्योंकि वे समय मे व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अरिष्ट उत्पन्न करने में व्यापार नहीं करते ।।

जो कार्य की उत्पत्ति में स्वयं व्यापार करता है वही कारण कहलाता है, जैसे कुम्भार घट में कारण है ।

समय का व्यवधान होने पर भी अतीत जाग्रत अवस्था का ज्ञान और मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार करते है, ऐसी कल्पना न्यायसंगत नहीं है; अन्यथा सब घोटाला हो जायगा।

(फिर तो) परम्परा से व्यवहित अन्यान्य पदार्थों के व्यापार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ।।

विवेचन—पहले बताया जा चुका है कि जहाँ समय का व्यवधान होता है, वहाँ कार्य-कारण भाव नहीं होता । इसी सिद्धान्त का यहाँ समर्थन किया गया है ।

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रति ॥७३॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति ॥७४॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ॥७५॥

अर्थ—अतीत जाग्रत-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (सोकर जागने के पश्चात् होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी मरण अरिष्ट (अरुन्ती तारा न दीखना आदि) का कारण नहीं है, क्योंकि वे समय से व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अरिष्ट उत्पन्न करने में व्यापार नहीं करते ।।

जो कार्य की उत्पत्ति में स्वयं व्यापार करता है वही कारण कहलाता है, जैसे कुम्भार घट में कारण है ।

समय का व्यवधान होने पर भी अतीत जाग्रत अवस्था का ज्ञान और मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार करते है, ऐसी कल्पना न्यायसंगत नहीं है; अन्यथा सब घोटाला हो जायगा

(फिर तो) परंपरा से व्यवहित अन्यान्य पदार्थों के व्यापार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ।।

विवेचन—पहले बताया जा चुका है कि जहां समय का व्यवधान होता है, वहां कार्य-कारण का भाव नहीं होता । इसी सिद्धान्त का यहां समर्थन किया गया है ।

अर्थ–सहचर रूप-रस आदि का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता; इस कारण सह हेतु का पूर्वोक्त हेतुओं में समावेश होना सम्भव नहीं है।

विवेचन–रूप और रस सहचर हैं और दोनों का स्व भिन्न-भिन्न है। रूप चक्षु–ग्राह्य होता है, रस जिह्वा–ग्राह्य है। जहाँ स्वरूप-भेद होता है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता और तादात्म्य सम्बन्ध के बिना स्वभाव हेतु में समावेश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त रूप रस आदि सहचर साथ–साथ उत्पन्न होते और साथ-साथ उत्पन्न होने वालों में कार्य-कारणभाव सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण सहचर हेतु किसी भी अन्य हेतु में अन्त र्गत नहीं किया जा सकता। उसे अलग हेतु स्वीकार करना चाहिए

हेतुओं के उदाहरण

ध्वनिः परिणतिमान्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, य प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान् यथा स्तम्भः। यो वा परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा वान्ध्येयः प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात् परिणतिमानिति व्या प्यस्य साध्येन। विरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण च।७।

अर्थ–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता जो प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, जैसे स्तम्भ अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है, जै वन्ध्या-पुत्र। शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है यह (विधिसाधक) साध्य से अविरुद्ध व्याप्य की उपलब्धि अन्व व्यतिरेक द्वारा बताई गई है।

अर्थ-वर्षा होगी, क्योंकि विशिष्ट (वर्षा के अनुकूल) मेघ दिखाई देते हैं; यह अविरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण। (यहां वर्षा साध्य से अविरुद्ध कारण विशिष्ट मेघ-की उपलब्धि है।)

अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि

उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारका: पुनर्वसूदयात्, इति पूर्वचरस्य ॥८०॥

अर्थ-एक मुहूर्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय होगा क्योंकि इस समय पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है; यह अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। (यहां पुष्य नक्षत्र से अविरुद्ध पूर्वचर पुनर्वसु की उपलब्धि है।

अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि

उदगुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्य:, उत्तरफल्गुनीनामुद्गमोपलब्धे:, इति उत्तरचरस्य ॥८१॥

अर्थ-एक मुहूर्त पहले पूर्वफल्गुनी का उदय हो चुका क्योंकि अब उत्तरफल्गुनी का उदय है। यह अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है। (यहां पूर्वफल्गुनी से अविरुद्ध उत्तरचर उत्तर फल्गुनी की उपलब्धि है।)

[illegible]

अस्तीह सहकारफले रूपविशेषः, समास्वाद्यमानरसविशेषात् इति सहचरस्य ॥८२॥

अर्थ--प्रतिषेध्य पदार्थ से विरुद्ध व्याप्त आदि की उपलब्धि छह प्रकार की है ।

विवेचन--विरुद्धोपलब्धि के सात भेद बताये थे । उनमें से पहले भेद का--स्वभावविरुद्धोपलब्धि का, उदाहरण बताया जा चुका है । शेष छह भेद ये हैं- (१) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (२) विरुद्धकार्योपलब्धि (३) विरुद्ध कारणोपलब्धि (४) विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि (५) विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और (६) विरुद्ध सहचरोपलब्धि

विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा--नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र सन्देहात् ॥८७॥

अर्थ--इस पुरुष को तत्त्वों में निश्चय नहीं है, क्योंकि उसे तत्त्वों में सन्देह है । यह विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि का उदाहरण है ।

विवेचन--यहां तत्त्वों का निश्चय प्रतिषेध्य है, उससे विरुद्ध अनिश्चय है और उससे व्याप्त सन्देह की उपलब्धि है ।

विरुद्धकार्योपलब्धि

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिर्वदनविकारादेः ॥८८॥

अर्थ--इस पुरुष के क्रोध आदि शान्त नहीं है, क्योंकि चेहरे पर विकार आदि पाये जाते हैं ।

विवेचन--यहां प्रतिषेध्य क्रोधादिक की शान्ति है, उससे

विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि

विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा-नोद्गान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफल्गुन्युदयात् ॥९१॥

अर्थ–एक मुहूर्त महले मृगशिर नक्षत्र का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी पूर्वफल्गुनी का उदय है।

विवेचन–यहाँ प्रतिषेध्य मृगशिर का उदय है; उससे विरु मघा नक्षत्र का उदय है और मघा के उत्तरचर पूर्वफल्गुनी के उदय की उपलब्धि है। अतः यह विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण हुआ।

विरुद्ध सहचरोपलब्धि

विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य मिथ्याज्ञा सम्यग्दर्शनात्

अर्थ--इस पुरुष का ज्ञान मिथ्या नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है।

विवेचन--यहाँ प्रतिषेध्य मिथ्याज्ञान है, उससे विरु सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान के सहचर सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है, अतः यह विरुद्धसहचरोपलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्धोपलब्धि के इन सब उदाहरणों में हेतु से पहले 'निषेध साधक' इतना पद और जोड़ देना चाहिए। जैसे-निषेधसाध विरुद्धस्वभावोपलब्धि, निषेधसाधक विरुद्ध कार्योपलब्धि, आदि

विवेचन-यहाँ प्रतिषेध्य कुम्भ है, उससे अविरुद्ध स्वभाव है। उपलब्ध होने की योग्यता और उस स्वभाव की अनुपलब्धि यह अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि का उदाहरण है।

अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः पादपानुपलब्धेः ॥९७॥

अर्थ-इस जगह पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है।

विवेचन-यहाँ प्रतिषेध्य पनस से अविरुद्ध व्यापक पादप की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि

कार्यानुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीजमंकुरानवलोकनात् ॥९८॥

अर्थ-अप्रतिहत शक्तिवाला बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर नहीं दिखाई देता।

विवेचन-जिसकी शक्ति मंत्र आदि से रोक न दी गई हो या पुराना होने से स्वभावतः नष्ट न हो गई हो वह अप्रतिहत शक्ति वाला कहलाता है। यहाँ प्रतिषेध्य अप्रतिहत शक्तिवाला बीज है, उससे अविरुद्ध कार्य अंकुर की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि है।

अर्थ—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभद्रपदा का उदय नहीं है क्योंकि अभी उत्तरभद्रपदा का उदय नहीं है।

विवेचन—यहां प्रतिषेध्य पूर्वभद्रपदा का उदय है, उ अविरुद्ध उत्तरचर उत्तरभद्रपदा के उदय की अनुपलब्धि होने यह अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि है।

अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि

सहचरानुपलब्धिर्यथा, नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥१०२॥

अर्थ—इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्द की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहां प्रतिषेध्य सम्यग्ज्ञान है, उससे अविरुद्ध स चर सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध सहचर पलब्धि का उदाहरण है।

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥२०

विरुद्ध कार्यकारणस्वभाव-व्यापकसहचरानुपलम्भ दात् ॥१०४॥

अर्थ—विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धानुपलब्धि के भेद हैं॥

(१) विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विरुद्ध कारणानुपल

३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि (४) विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि
५) विरुद्ध सहचरानुपलब्धि ॥

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि

विरुद्ध कार्यानुपलब्धिर्यथा-अत्र प्राणिनि रोगाति-
शयः समस्ति, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः ॥१०५॥

अर्थ-इस प्राणी में रोग का अतिशय है, क्योंकि नीरोग
चेष्टा नहीं देखी जाती।

विवेचन-यहां रोग का अतिशय साध्य है, इससे विरुद्ध
नीरोगता है और नीरोगता के कार्य की-चेष्टा की-यहां अनुपलब्धि
। अतः यह विरुद्ध कार्यानुपलब्धि है।

विरुद्ध कारणानुपलब्धि

विरुद्ध कारणानुपलब्धिर्यथा, विद्यतेऽत्र प्राणिनि
कष्टमिष्टसंयोगाभावात् ॥१०६॥

अर्थ—इस प्राणी को कष्ट है, क्योंकि इष्ट-संयोग का
अभाव है।

विवेचन-यहां साध्य कष्ट है। इससे विरुद्ध सुख है।
सुख का कारण इष्टमित्रों का संयोग है और उसका अभाव है।
अतः यह विरुद्ध कारणानुपलब्धि है।

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्यथा वस्तुजातमनेकान्ता-
त्मकं, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् ॥१०७॥

अर्थ—वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है क्योंकि एकान्त
की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ अनेकान्तरूपता साध्य से विरुद्ध एक
स्वभाव की अनुपलब्धि है। अतः यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धि

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

**विरुद्ध व्यापकानुपलब्धिर्यथा अस्त्यत्र छाया, औ
ष्ण्यानुपलब्धेः ॥१०८॥**

अर्थ—यहाँ छाया है, क्योंकि उष्णता की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ छाया-साध्य से विरुद्ध व्यापक उष्णता
अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

विरुद्ध सहचरानुपलब्धि

**विरुद्ध सहचरानुपलब्धिर्यथा—अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं स
म्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥१०९॥**

अर्थ—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शन
अनुपलब्धि है।

विवेचन--यहाँ मिथ्याज्ञान-साध्य से विरुद्ध सहचर स
ग्ज्ञान की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि है।

ऊपर बताये हुए तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं
पहचानने का एक सुगम उपाय है-

अर्थ–वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है क्योंकि एकान्त स्वा...
की अनुपलब्धि है।

विवेचन–यहां अनेकान्तरूपता साध्य से विरुद्ध एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है। अतः यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धि है।

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धिर्यथा अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः ॥१०८॥

अर्थ–यहां छाया है, क्योंकि उष्णता की अनुपलब्धि है।

विवेचन–यहां छाया-साध्य से विरुद्ध व्यापक उष्णता की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

विरुद्ध सहचरानुपलब्धि

विरुद्ध सहचरानुपलब्धिर्यथा–अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥१०९॥

अर्थ–इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है।

विवेचन–यहां मिथ्याज्ञान-साध्य से विरुद्ध सहचर सम्यग्ज्ञान की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि है।

ऊपर बताये हुए तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं को पहचानने का एक सुगम उपाय है-

(१) पहले पहले साध्य को देखो। यदि सद्भाव रूप हो तो हेतु को विधिसाधक और अभावरूप हो तो निषेधसाधक समझ लो।

(२) इसी प्रकार हेतु यदि सद्भाव रूप है तो उसे उप-लब्धि समझो और निषेधरूप हो तो अनुपलब्धि समझो।

(३) साध्य और हेतु—दोनों यदि सद्भावरूप हों या दोनों अभावरूप हों तो हेतु को 'अविरुद्ध' समझना चाहिये। दोनों में से कोई एक सद्भावरूप हो और एक अभावरूप हो तो 'विरुद्ध' समझना चाहिए।

(४) साध्य के साथ और हेतु का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसका विचार करो। हेतु यदि साध्य से उत्पन्न होता है तो कार्य होगा, साध्य को उत्पन्न करता है तो कारण होगा, पूर्ववर्ती है तो पूर्वचर होगा, बाद में होता है तो उत्तरचर होगा। अगर दोनों साथ-साथ रहते हों तो सहचर होगा।

चतुर्थ परिच्छेद

आगम प्रमाण का विवेचन

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥१॥

उपचारादाप्तवचनं च ॥२॥

अर्थ–आप्त के वचन से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते हैं ॥

उपचार से आप्त का वचन भी आगम कहलाता है ॥

विवेचन–आप्त का स्वरूप अगले सूत्र में बताया जायगा। प्रामाणिक पुरुष को आप्त कहते हैं। आप्त के शब्दों को सुनकर श्रोता को पदार्थ का ज्ञान होता है। उसी ज्ञान को आगम कहते हैं। आगम के इस लक्षण से ज्ञात होता है कि आगम-ज्ञान में आप्त कारण होते हैं। अतः शब्द कारण हैं और ज्ञान कार्य है। कारण में कार्य का उपचार करने से आप्त के वचन भी आगम कहलाते हैं।

आगम का उदाहरण

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतयः ॥३॥

अर्थ–इस जगह रत्नों का खजाना है, मेरु पर्वत आदि हैं।

आप्त के भेद

स च द्वेधा–लौकिको लोकोत्तरश्च ॥६॥

लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादि ॥७॥

अर्थ–आप्त दो प्रकार के होते हैं–(१) लौकिक आप्त और (२) लोकोत्तर आप्त ।

पिता आदि लौकिक आप्त हैं और तीर्थङ्कर आदि लोकोत्तर आप्त हैं ॥

विवेचन–लोकव्यवहार में पिता माता आदि प्रामाणिक होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थंकर, गणधर आदि प्रामाणिक होते हैं इसलिए वे लोकोत्तर आप्त हैं ।

मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। उनके मत के अनुसार कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। उनसे कोई कहे कि जब सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो आपके आगम भी सर्वज्ञोक्त नहीं हैं। फिर उन्हें प्रमाण कैसे माना जाय ? तब वे कहते हैं– 'वेद हमारा मूल आगम है और वह न सर्वज्ञोक्त है न असर्वज्ञोक्त है। वह किसी का उपदेश नहीं है, किसी ने उसे बनाया नहीं है। वह अनादिकाल से यों ही चला आ रहा है। इसी कारण वह प्रमाण है।" मीमांसकों के इस मत का विरोध करते हुए यहाँ पर प्रतिपादन किया गया है कि आप्तोक्त होने से ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वचन का लक्षण

वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम् ॥८॥

अर्थ–स्वाभाविक शक्ति और संकेत के द्वारा शब्द, पदार्थ का बोधक होता है।

विवेचन–शब्द को सुनकर उससे पदार्थ का बोध क्यों होता है? इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शब्द के पदार्थ का ज्ञान होने के दो कारण हैं–(१) शब्द की स्वाभाविक शक्ति और (२) संकेत।

(१) स्वाभाविक शक्ति–जैसे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है उसी प्रकार शब्द में अभिधेय पदार्थ का बोध करा देने की शक्ति है। इस शक्ति को योग्यता अथवा वाच्य-वाचक शक्ति भी कहते हैं।

संकेत–प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु एक ही शब्द यदि संसार के समस्त पदार्थों का वाचक बन जायगा तो लोक-व्यवहार नहीं चलेगा लोक-व्यवहार के लिये यह आवश्यक है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक हो। ऐसी नियतता लाने के लिये संकेत की आवश्यकता है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, यथार्थायथार्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः ॥१२॥

अर्थ–जैसे दीपक स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता है; किन्तु सत्यता और असत्यता पुरुष के गुण-दोष पर निर्भर है।

विवेचन–दीपक के समीप अच्छा या बुरा जो भी पदार्थ होगा उसी को दीपक प्रकाशित करेगा उसी प्रकार शब्द वक्ता

द्वारा प्रयोग किये जाने पर पदार्थ का बोध करा देगा, चाहे वह पदार्थ वास्तविक हो या अवास्तविक काल्पनिक हो या सत्य हो। तात्पर्य यह है कि शब्द का कार्य पदार्थ का बोध कराना है, उसमें सच्चाई और झुठाई वक्ता के गुणों और दोषों पर निर्भर है। वक्ता यदि गुणवान् होगा तो शाब्दिक ज्ञान सत्य होगा, वक्ता यदि दोषी होगा तो शाब्दिक ज्ञान मिथ्या होगा।

शब्द की प्रवृत्ति

सर्वत्रायं ध्वनिर्विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभंगीमनुगच्छति ॥१३॥

अर्थ—शब्द, सर्वत्र विधि और निषेध के द्वारा अपने वाच्य-अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ सप्तभंगी के रूप में प्रवृत्त होता है।

सप्तभंगी का स्वरूप

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥१४॥

अर्थ—एक ही वस्तु में, किसी एक धर्म (गुण) सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से नाना प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। यह वचन 'स्यात्' पद से युक्त होता है और इसमें कहीं विधि की विवक्षा होती है, कहीं निषेध की विवक्षा होती और कहीं दोनों की विवक्षा होती है।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म पाये जाते हैं, अथवा यों कहें कि अनन्त धर्मों का पिंड ही पदार्थ कहलाता है। इस

अनन्त धर्मों से किसी एक धर्म को लेकर कोई पूछे कि, अमुक धर्म सत् है ? या असत् है ? या सत् और असत् उभय रूप है ? इत्यादि । तो इन प्रश्नों के अनुसार उस एक धर्म के विषय में सात प्रकार के उत्तर देने पड़ेंगे । प्रत्येक उत्तर के साथ 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द जुड़ा होगा । कोई उत्तर विधि रूप होगा–अर्थात् कोई उत्तर हां में होगा, कोई नहीं में होगा। किन्तु विधि और निषेध में विरोध नहीं होना चाहिए । इस प्रकार सात प्रकार के उत्तर को अर्थात् वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं ।

सप्तभंगी से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि पदार्थ में धर्म किस प्रकार से रहते हैं ।

सात भंग

तद्यथा-स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥१५॥

स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः ॥१६॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ॥१७॥

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ॥१८॥

स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधि कल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥१९॥

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ॥२०॥

हैं। यहां सात प्रकार का वचन-प्रयोग करके सप्तभंग को ही स्प किया गया है। घट पदार्थ के एक अस्तित्व धर्म को लेकर सप्त-भंगी इस प्रकार बनती है-

(१) स्यात् अस्ति घटः (२) स्यात् नास्ति घटः (३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः (४) स्यात् अवक्तव्यो घटः (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यो घटः (६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्यो घटः (७) स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यो घटः।

यहां अस्तित्व धर्म को लेकर कहीं विधि, कहीं निषेध और कहीं विधि-निषेध दोनों क्रम से और कहीं दोनों एक साथ घट में बताये गये हैं। यहां यह प्रश्न होता है कि घट यदि है तो नहीं कैसे है? घट नहीं है तो है कैसे? इस विरोध को दूर करने के लिये ही 'स्यात्' (कथंचित्) सबके साथ जोड़ा गया है। 'स्याद्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा से। जैसे-

(१) स्यात् अस्ति घटः-घट कथंचित् है-अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा से घट है।

(२) स्यात् नास्ति घटः-घट कथंचित् नहीं है-अर्थात् पर-द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से घट नहीं है।

(३) स्यादस्ति नास्ति घटः-घट कथंचित् है, कथंचित् नहीं है-अर्थात् घट में स्व द्रव्यादि से अस्तित्व और पर द्रव्यादि से नास्तित्व है। यहां क्रम से विधि और निषेध की विवक्षा की गई है।

(४) स्यात् अवक्तव्यो घटः-घट कथंचित् अवक्तव्य है-जब विधि और निषेध दोनों की एक साथ विवक्षा होती है तब दोनों को

क्योंकि जो वस्तु कहीं, कभी, किसी प्रकार प्रधान रूप नहीं जानी गई है वह अप्रधान रूप से नहीं जानी जा सकती ।।

विवेचन—सप्तभंगी का स्वरूप बताते हुए शब्द को विधि-निषेध आदि का वाचक कहा गया है। यहाँ 'शब्द विधि का ही वाचक है' इस एकान्त का खण्डन किया गया है।' इस खण्डन का प्रश्नोत्तर रूप से समझना सुगम होगा:—

एकान्तवादी—शब्द विधि का ही वाचक है, निषेध का वाचक नहीं है।

अनेकान्तवादी—आपका कथन ठीक नहीं है। ऐसा मानने से तो निषेध का ज्ञान शब्द से होगा ही नहीं।

एकान्तवादी—शब्द से निषेध का ज्ञान अप्रधान रूप से होता है, प्रधान रूप से नहीं।

अनेकान्तवादी—जिस वस्तु को कभी कहीं प्रधानरूप में—असली तौर पर—नहीं जाना उसे अप्रधान रूप में जाना नहीं जा सकता। अतः निषेध यदि कभी कहीं प्रधान रूप में नहीं जाना गया तो अप्रधान रूप से भी वह नहीं जाना जा सकता। जो असली केसरी को नहीं जानता वह पंजाब-केसरी को कैसे जानेगा ? अतएव शब्द को विधि का ही वाचक नहीं मानना चाहिए।

द्वितीय भंग के एकान्त का निराकरण

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् ।२६।

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥३०॥

अर्थ—शब्द एक साथ विधि-निषेध रूप पदार्थ का अवाच
ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है ॥

क्योंकि ऐसा मानने से पदार्थ अवक्तव्य शब्द से भी वक्त
नहीं होगा ॥

विवेचन—शब्द चतुर्थ भंग अर्थात् अवक्तव्यता का ही प्रति
पादन करता है, ऐसा मान लेने पर पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य
जायगा; फिर वह अवक्तव्य शब्द से भी नहीं कहा जा सके
अतः केवल चतुर्थ भंग का वाचक शब्द नहीं माना जा सकता।

पंचम भंग के एकान्त का निराकरण

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युग
वाचक एव स इत्येकान्तोऽपि न कान्तः ॥३१॥

निषेधात्मना सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचक
वाचकत्वाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥३२॥

अर्थ—शब्द विधि रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ उ
यात्मक-विधि निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवाचक ही
अर्थात् पंचम भंग का ही वाचक है; ऐसा एकान्त मानना भी
नहीं है ॥

क्योंकि शब्द निषेधात्मक पदार्थ का वाचक और युगपत् उ
त्मक (विधि-निषेध रूप) पदार्थ का अवाचक है, ऐसी
प्रतीति होती है ।

का वाचक और अवाचक है अर्थात् सातवें ही भंग का वाचक है यह एकान्त भी मिथ्या है ॥

क्योंकि शब्द केवल विधि आदि का भी वाचक है ॥

विवेचन–शब्द क्रम से विधि निषेध रूप भी पदार्थ का वाचक और युगपत् विधि-निषेध रूप पदार्थ का अवाचक है अर्थात् केवल सप्त भंग का ही वाचक है, यह एकान्त मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि भंगों का भी वाचक है।

भंग-संख्या पर शंका और समाधान

एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभंगीप्रसंगादसंगतैव सप्तभंगीति न चेतसि निधेयम् ॥३७॥

विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभंगीनामेव सम्भवात् ॥३८॥

अर्थ–जीव आदि प्रत्येक वस्तु में विधि रूप और निषेध अनन्त धर्म स्वीकार किये हैं अतः अनन्तभंगी मानना चाहिये सप्तभंगी मानना असंगत है। ऐसा मन में नहीं सोचना चाहिये

क्योंकि विधि-निषेध के भेद से, एक धर्म को लेकर एक व[स्तु] में अनन्त सप्तभंगियां ही हो सकती हैं–अनन्तभंगी नहीं हो सकती

विवेचन-शंकाकार का कथन यह है कि [illegible] में एक व[स्तु] अनन्त धर्म माने हैं अतः उन्हें सप्तभंगी के बदले अनन्तभंगी मानना चाहिये। इसका उत्तर यह दिया गया है कि एक वस्तु में अनन्त धर्म

हो सकते हैं। सात ही प्रश्न इसलिये हो सकते हैं कि उसे जिज्ञा-साएँ सात ही हो सकती हैं। जिज्ञासाएँ सात इसलिये होती हैं कि उसे सन्देह सात ही होते हैं। सन्देह सात इसलिये होते हैं कि सन्देह के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक धर्म सात प्रकार के ही हो सकते हैं।

सप्तभंगी के दो भेद

इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ॥४३॥

अर्थ—यह सप्तभंगी प्रत्येक भंग में दो प्रकार की है-सकलादेश स्वभाववाली और विकलादेश स्वभाववाली।

विवेचन—जो सप्तभंगी प्रमाण के अधीन होती है वह सकलादेश स्वभाव वाली कहलाती है और जो नय के अधीन होती है वह विकलादेश स्वभाववाली होती है।

सकलादेश का स्वरूप

प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिर-भेदवृत्तिप्राधान्यात् अभेदोपचारात् वा यौगपद्येन प्रतिपादक वचः सकलादेशः।

अर्थ—प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मोंवाली वस्तु को, काल आदि के द्वारा, अभेद प्रधानता से अथवा अभेद का उप-चार करके एक साथ प्रतिपादन करने वाला वचन सकलादेश कहलाता है।

कारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्याऽर्थक्रियासामर्थ्यघटनाच्च ॥ २ ॥

अर्थ–सामान्य विशेष रूप पदार्थ प्रमाण का विषय है, क्योंकि यह अनुगत प्रतीति (सदृश ज्ञान) और विशिष्टाकार प्रतीति (भेद-ज्ञान) का विषय होता है। दूसरा हेतु–क्योंकि पूर्व पर्याय के विनाश रूप, उत्तर पर्याय के उत्पाद रूप और दोनों पर्यायों में अवस्थिति रूप परिणति से अर्थक्रिया की शक्ति देखी जाती है।

विवेचन–जिन पदार्थों में एक दृष्टि से हमें सदृशता–समानता की प्रतीति होती है उन्हीं पदार्थों में दूसरी दृष्टि से विसदृशता–विशेष की प्रतीति भी होने लगती है। दृष्टि में भेद होने पर भी जब तक पदार्थ में सदृशता और विसदृशता न हो तब तक उनकी प्रतीति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ में सदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है और विसदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म भी है।

इसके अतिरिक्त पदार्थ पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, फिर भी द्रव्य रूप में अपनी स्थिति कायम रखता है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमय होकर ही वह अपनी क्रिया करता है। यहां उत्पाद-व्यय पदार्थ की विशेषरूपता सिद्ध करते हैं और ध्रौव्य सामान्यरूपता सिद्ध करता है।

इन दोनों हेतुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के धर्म हैं।

सामान्य का निरूपण

सामान्यं द्विप्रकार-तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च ॥३॥

पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा-तत्रैव सुखदुःखादि ॥८॥

अर्थ–विशेष भी दो प्रकार का है–गुण और पर्याय ॥

सहभावी अर्थात् सदा साथ रहने वाले धर्म को गुण कहते हैं।

जैसे–वर्तमान में विद्यमान कोई ज्ञान और भावी ज्ञान रूप परिणाम की योग्यता।

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में सुख-दुःख आदि ॥

विवेचन–सदैव द्रव्य के साथ रहने वाले धर्मों को गुण कहते हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान और दर्शन सदा रहते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता। अतएव यह आत्मा के गुण हैं। रूप, रस, गंध स्पर्श सदैव पुद्गल के साथ रहते हैं–पुद्गल से एक क्षण भर के लिये भी कभी न्यारे नहीं होते, अतः रूप आदि पुद्गल के गुण हैं। गुण द्रव्य की भाँति अनादि अनन्त होते हैं।

पर्याय इससे विपरीत है। वह उत्पन्न होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है। आत्मा जब मनुष्य-भव का त्याग कर देव भव में जाती है तब मनुष्य-पर्याय का विनाश हो जाता है और देव-पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। एक वस्तु की एक पर्याय का नाश होने पर उसके स्थान पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है अतएव पर्याय को क्रमभावी कहा है।

प्रतीतसाध्यधर्म विशेषण पक्षाभास

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-आर्हतान्प्रति अवधारणवर्ज्यं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥३९॥

अर्थ—जैनों के प्रति अवधारण (एव-ही) के बिना 'जीव है' इस प्रकार कहना प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन— 'जीव है' यहाँ जीव पक्ष है और 'है' साध्य है, यह साध्य जैनों को प्रतीत सिद्ध है। अतः इस पक्ष का साध्य-धर्म रूप विशेषण पक्षाभास हो गया। यदि इस पक्ष में 'एव-ही' का प्रयोग किया गया होता तो यह साध्य अप्रतीत होता क्योंकि जैन जीव में एकान्त अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु पर-रूप से नास्तित्व भी मानते हैं।

निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास के भेद

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः॥४०॥

अर्थ-निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमाननिराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचननिराकृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए॥

अर्थात् सूर्य अस्त हो जाने पर और पूर्व दिशा में उदित होने से पहले सब प्रकार के आहार आदि की मन में इच्छा भी न करे।

रात्रि-भोजन का निषेध करने वाले इस आगम से 'जैनों को रात्रि में भोजन करना चाहिए' यह प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है।

लोकनिराकृत

लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-न पारमार्थिकः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥४४॥

अर्थ—'प्रमाण और प्रमाण से प्रतीत होने वाले घट-पट आदि पदार्थ काल्पनिक हैं' यह लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—लोक में प्रमाण द्वारा प्रतीत होने वाले सब पदार्थ सच्चे माने जाते हैं और ज्ञान भी वास्तविक माना जाता है, अतएव उनकी काल्पनिकता लोक-प्रतीति से बाधित होने के कारण यह प्रतिज्ञा लोकबाधित है।

स्ववचनबाधित

स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति प्रमेयपरिच्छेदकं प्रमाणम् ॥४५॥

अर्थ—'प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता' यह स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

नित्यता और सर्वथा अनित्यता से विरुद्ध कथंचित् नित्य होता है वही प्रत्यभिज्ञानवान् होता है। अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः॥५४॥
स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकःसन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च॥५५
निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा-नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्॥५६॥
संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा-विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् ॥५७॥

अर्थ—जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) में सन्देह हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है ॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है—निर्णीतविपक्षवृत्तिक और संदिग्ध विपक्षवृत्तिक।

शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, यहां प्रमेयत्व हेतु निर्णीतविपक्षवृत्तिक है।

विवादग्रस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है; यह वक्तृत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष वृत्तिक है।

विवेचन—जहां साध्य का अभाव हो वह विपक्ष कहलाता है। और विपक्ष में जो हेतु रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जिस हेतु का विपक्ष में रहना निश्चित हो वह निर्णीतविपक्षवृत्तिक है और जिस हेतु का विपक्ष में रहना संदिग्ध हो वह संदिग्धविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

विवेचन—साधर्म्य दृष्टान्त में साध्य और साधन का निश्चित रूप से अस्तित्व होना चाहिये। जिस दृष्टान्त में साध्य का, साधन का, या दोनों का अस्तित्व हो, या अस्तित्व अनिश्चित हो अथवा साधर्म्य दृष्टान्त का ठीक तरह प्रयोग न किया गया हो वह साधर्म्य दृष्टान्ताभास कहलाता है।

(१) साध्य-विकलदृष्टान्ताभास

तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, दुःखवदिति साध्यधर्म विकलः ॥६०॥

अर्थ-शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे दुःख। यहां दुःख उदाहरण साध्यविकल है क्योंकि उसमें अपौरुषेयत्व साध्य नहीं रहता॥

(२) साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्म विकलः ॥६१॥

अर्थ-इसी प्रतिज्ञा में और इसी हेतु में 'परमाणु' का उदाहरण साधनविकल है।

विवेचन-शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है, जैसे परमाणु; यहां परमाणु में अमूर्तता हेतु नहीं पाया जाता, क्योंकि परमाणु मूर्त है। अतः यह साधनविकल दृष्टान्ताभास हुआ।

(३) [illegible]

कलशवदित्युभयधर्मविकलः ॥६२॥

(६) संदिग्धउभयधर्मदृष्टान्ताभास

नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युभय धर्मा ॥६५॥

अर्थ--यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि वाला है जै अमुक मुनि। यह संदिग्ध-उभय दृष्टान्ताभास है। क्योंकि अमु मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्व दोनों का ही संदेह है

(७) अनन्वय दृष्टान्ताभास

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुष वदित्यनन्वयः ॥६६॥

अर्थ--विवक्षित पुरुष रागादि वाला है, क्योंकि वक्ता है जैसे कोई इष्ट पुरुष।

विवेचन--जिस दृष्टान्त में अन्वय व्याप्ति न बन सके उ अनन्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। यहाँ इष्ट पुरुष में रागादिम और वक्तृत्व दोनों मौजूद रहने पर भी 'जो जो वक्ता होता है व वह रागादि वाला होता है' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनती क्योंकि अर्हन्त भगवान् वक्ता हैं, पर रागादि वाले नहीं हैं। अत 'इष्ट पुरुष' यह दृष्टान्त अनन्वय दृष्टान्ताभास है।

(८) अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः ॥६[illegible]

अर्थ--शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है, जैसे घट। यहाँ घ दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास है।

(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक (२) असिद्धस
असिद्ध उभयव्यतिरेक (४) संदिग्धसाध्यव्यति
साधनव्यतिरेक (६) संदिग्धोभयव्यतिरेक (
(८) अप्रदर्शितव्यतिरेक (९) विपरीतव्यतिरेक

विवेचन--वैधर्म्य दृष्टान्त में निश्चित रू
साधन का अभाव दिखाना पड़ता है। जिस दृ
का, साधन का या दोनों का अभाव न हो या अ
अथवा अभाव ठीक तरह बताया न गया हो वह
भास कहलाता है। उसके भी नौ भेद हैं।

असिद्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभा

तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्, य
भवति न तत् प्रमाणं यथा स्वप्नज्ञानमिति
व्यतिरेकः, स्वप्नज्ञानाद् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्ति

अर्थ--अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह प्रमाण
नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता, जैसे स्व
'स्वप्नज्ञान' यह उदाहरण असिद्ध-साध्य व्यतिरे
है, क्योंकि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तता (साध्य) का अ

(२) असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभा

निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्

आगमाभास का उदाहरण

यथामेकलकन्यकायाः कूले, तालहितालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत बालकाः ॥८४॥

अर्थ–जैसे रेवा नदी के किनारे, ताल और हिताल वृक्षों के नीचे पिंड खजूर पडे हैं–लड़को ! जाओ, जल्दी जाओ ॥

विवेचन–वास्तव में रेवा नदी के किनारे पिंडखजूर नहीं हैं, फिर भी कोई व्यक्ति बच्चों को बहकाने के लिये झूठमूठ ऐसा कहता है। इस कथन को सुनकर बच्चों को पिंडखजूर का ज्ञान होना आगमाभास है।

प्रमाण संख्याभास

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम् ॥८५॥

अर्थ–एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण की मिथ्या संख्या करना संख्याभास है।

विवेचन–वास्तव में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन भेदों से विपरीत एक, दो, तीन, चार आदि भेद मानना संख्याभास या भेदाभास है। कौन कितने प्रमाण मानते हैं यह भी पहले ही बताया जा चुका है।

विषयाभास

सामान्यमेव, विशेष एव, तद्द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाभासः ॥८६॥

द्रव्यार्थिक नय के भेद

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥६॥

अर्थ–द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है–(१) नैगम (२) संग्रह नय और (३) व्यवहार नय।

नैगमनय

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥७॥

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥८॥

वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥९॥

क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः १०

अर्थ–दो धर्मों की, दो धर्मियों की और धर्म-धर्मी की प्रधान और गौण रूप से विवक्षा करना, इस प्रकार अनेक मार्गों से वस्तु का बोध कराने वाला नय नैगमनय कहलाता है ॥

दो धर्मों का प्रधान-गौण भाव–जैसे आत्मा में सत्व से युक्त चैतन्य है ॥

दो धर्मियों का प्रधान-गौणभाव–जैसे पर्याय वाला द्रव्य वस्तु कहलाता है ॥

दो धर्मियों का प्रधान-गौणभाव–जैसे विषयासक्त जीव क्षण भर सुखी होता है ॥

विवेचन–दो धर्मों में से एक धर्म की मुख्य रूप से विवक्षा

नैगमाभास का उदाहरण

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

अर्थ–जैसे आत्मा में सत्त्व और चैतन्य धर्म परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, इत्यादि मानना।

संग्रहनय का स्वरूप

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ॥ १३ ॥

अयमुभयविकल्पः---परोऽपरश्च ॥ १४ ॥

अर्थ--सिर्फ सामान्य को ग्रहण करने वाला अभिप्राय संग्रह नय है ॥

संग्रहनय के दो भेद हैं--(१) परसंग्रह (२) अपरसंग्रह ॥

विवेचन–विशेष की ओर उदासीनता रख कर सत्तारूप पर सामान्य को और द्रव्यत्व, जीवत्व आदि अपर सामान्य को ही ग्रहण करने वाला नय संग्रहनय कहलाता है। संग्रहनय का विषय सामान्य है और सामान्य पर-अपर के भेद से दो प्रकार का है अतएव संग्रहनय के भी दो भेद हो गये हैं--परसंग्रह और अपरसंग्रह।

परसंग्रहनय

अशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥

प्रकार दूसरे अंश का अपलाप करने से यह नयाभास हो गया है।
वेदान्त दर्शन परसंग्रहाभास है, क्योंकि वह एकान्त रूप से सत्ता को
ही तत्त्व मानता और विशेषों को मिथ्या बतलाता है।

अपर संग्रहनय

द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु
गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १९ ॥

धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वा-
भेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

अर्थ--द्रव्यत्व पर्यायत्व आदि अपर सामान्यों को स्वीकार
करने वाला और उन अपर सामान्यों के भेदों में उदासीनता रखने
वाला नय अपरसंग्रहनय कहलाता है।

जैसे---धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य
सब एक है क्योंकि सब में एक द्रव्यत्व विद्यमान है।

विवेचन--छहों द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला द्रव्यत्व
अपर सामान्य है। अपर संग्रह नय, अपर सामान्य को विषय करता
है। अतः इसकी दृष्टि में द्रव्यत्व एक होने से सभी द्रव्य एक हैं

अपरसंग्रहाभास

द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभास
यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनु-
पलब्धेः ॥ २२ ॥

ग़नुकूल, सामान्य में भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। उदा-हरणार्थ संग्रहनय ने सत्ता रूप अभेद माना, व्यवहार उसके दो भेद करता है-द्रव्य और पर्याय।

व्यवहारनयाभास

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

यथा-चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

अर्थ--जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है वह व्यवहारनयाभास है।

जैसे--चार्वाक दर्शन।

विवेचन-द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार नय है और मिथ्या भेद मानना व्यवहाराभास है। चार्वाक दर्शन वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता किन्तु अवास्तविक भूत-चतुष्टय को स्वीकार करता है। अतः चार्वाक दर्शन (नास्तिक मत) व्यवहार नयाभास है।

पर्यायार्थिकनय के भेद

पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवंभूतश्च ॥ २७ ॥

अर्थ--पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है--(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ़ और (४) एवंभूत।

ऋजुसूत्रनय

ऋजु-वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

शब्दनय

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३२ ॥

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः । ३३ ।

अर्थ–काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है।

जैसे--सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा।

विवेचन--शब्दनय और आगे के समभिरूढ तथा एवंभूत नय शब्द को प्रधान मानकर उसके वाच्य अर्थ का निरूपण करते हैं, इसलिए इन तीनों को शब्दनय कहते हैं।

काल, कारक, लिंग और वचन के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है। उदाहरणार्थ-सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा; इन तीन वाक्यों में एक सुमेरु का त्रिकाल सम्बन्धी अस्तित्व बताया गया है, पर यहाँ काल का भेद है, अतः शब्द नय सुमेरु को तीन रूप स्वीकार करता है।

शब्दनयाभास

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । ३४ ।

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादि ॥ ३५ ॥

अर्थ–काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य पदार्थ में एकान्त भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयाभास है।

का भेद न होने पर भी केवल पर्याय-वाची शब्दों के भेद से ही पदार्थ में भेद मान लेता है ।

इन्द्र शक्र और पुरन्दर शब्द-तीनों एक इन्द्र के वाचक हैं, किंतु समभिरूढ़ नय इन शब्दों की व्युत्पत्ति के भेद पर दृष्टि दौड़ाता है और कहता है कि जब तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् है तब तीनों शब्दों का वाच्य पदार्थ एक कैसे हो सकता है? अतःपर्याय-वाची शब्द के भेद से अर्थ में भेद मानना चाहिये ।

इस प्रकार समभिरुढ़ नय अर्थसम्बन्धी अभेद को गोण करके पर्याय-भेद से अर्थ में भेद स्वीकार करता है ।

समभिरूढ़ नयाभास

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गवदित्यादिः।३९

अर्थ-एकान्त रूप से पर्याय-वाचक शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय समभिरूढ़ नयाभास है ।

जैसे--इन्द्र शक्र, पुरन्दर आदि शब्द भिन्न-भिन्न पदार्थ के वाचक है । क्योंकि वे भिन्न-भिन्न शब्द है, जैसे करी (हाथी) कुरंग (हिरन) और तुरग (घोड़ा) शब्द ॥

विवेचन--समभिरूढ़नय पर्याय-भेद से अर्थ में भेद स्वीकार करता है पर अभेद का निषेध नहीं करता, उसे केवल गोण कर देता

विवेचन—सातों नयों के विषय की न्यूनाधिकता यहाँ सामान्य रूप से बताई गई है। पहले वाला नय विशाल विषय वाला और पीछे का नय संकुचित विषय वाला है। तात्पर्य यह है कि नैगम नय सबसे विशाल दृष्टिकोण है। फिर उत्तरोत्तर दृष्टिकोण में सूक्ष्मता आती गई है। विशेष विवरण सूत्रकार ने स्वयं दिया है।

अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण

सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वात् बहुविषयः ॥४८॥

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्रात् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः ।४९।

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाद्-ऋजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ।५०।

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ।५१।

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥५२ ॥

अर्थ—सिर्फ सत्ता को विषय करने वाले संग्रहनय की अपेक्षा सत्ता और असत्ता को विषय करने वाला नैगम नय अधिक विषय वाला है।

इस प्रकार अनुमान से भी आत्मा सिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'एगे आया' इत्यादि आगमों से भी आत्मा सिद्ध है। यह आत्मा चैतन्यमय आदि विशेषणों से विशिष्ट है।

चैतन्य स्वरूप–इस विशेषण से नैयायिक आदि का निराकरण होता है, क्योंकि वे आत्मा को चैतन्य रूप नहीं मानते।

परिणामी–इस विशेषण से सांख्य मत का निराकरण होता है, क्योंकि सांख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं परिणमनशील नहीं मानते।

कर्त्ता-यह विशेषण भी सांख्य-मत के निराकरण के लिए है। सांख्य आत्मा को अकर्त्ता मानते हैं और प्रकृति को कर्त्ता मानते हैं

साक्षात् भोक्ता–यह विशेषण भी सांख्य-मत के खण्डन के लिए है। सांख्य आत्मा को कर्म-फल का साक्षात् भोगने वाला नहीं मानते।

स्वदेहपरिमाण--इस विशेषण से नैयायिक और वैशेषिक मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि ये आत्मा को आकाश की भांति व्यापक मानते हैं।

प्रतिशरीरभिन्न इस विशेषण से वेदान्त मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि वेदान्त मत में एक ही आत्मा माना गया है। वे समस्त शरीरों में एक ही आत्मा मानते हैं।

पौद्गलिक अदृष्टवान–यह विशेषण नास्तिक मत का खण्डन करता है, क्योंकि नास्तिक लोग अदृष्ट नहीं मानते। तथा जो लोग अदृष्ट मानते हैं किन्तु उसे पौद्गलिक नहीं मानते उनके मत का भी इससे खण्डन होता है।

अष्टम परिच्छेद

वाद का निरूपण

वाद का लक्षण

विरुद्धयोर्धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृततदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

अर्थ—परस्पर विरोधी दो धर्मों में से, एक का निषेध करके अपने मान्य दूसरे धर्म की सिद्धि के लिए साधन और दूषण का प्रयोग करना वाद है।

विवेचन—आत्मा की सर्वथा नित्यता और कथंचित् नित्यता ये दो विरोधी धर्म हैं। इनमें से किसी भी एक धर्म को स्वीकार करके, और दूसरे धर्म का निषेध करके, वादी और प्रतिवादी अपने पक्ष को साधने के लिए और विरोधी पक्ष को दूषित करने के लिए जो वचन-प्रयोग करते हैं वह वाद कहलाता है। वादी को अपने पक्ष की सिद्धि और पर पक्ष का निराकरण-दोनों करने पड़ते हैं और इसी प्रकार प्रतिवादी को भी दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं।

वादी-प्रारम्भक के भेद

प्रारम्भकश्चात्र जिगीषुः तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २ ॥

अयं द्विविधः क्षायोपशमिकज्ञानशाली केवली च॥८॥

अर्थ–तत्त्वनिर्णिनीषु दो प्रकार के हैं–(१) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु और (२) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु ॥

शिष्य आदि स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु हैं ॥

गुरु आदि परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु हैं ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु भी दो प्रकार के होते हैं । क्षायोपशमिकज्ञानी और केवली ॥

विवेचन–अपने आपके लिये तत्त्वबोध की इच्छा रखने वाले स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं और दूसरे को तत्त्व-बोध कराने की इच्छा रखने वाले परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं । स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु शिष्य, मित्र या और कोई सहयोगी होता है । और परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु गुरु, मित्र या अन्य सहयोगी हो सकता है । इस प्रकार वाद का प्रारंभ करने वाले चार प्रकार के होते हैं–(१) जिगीषु (२) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु (३) क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु और (४) केवलीपरत्रतत्त्वनिर्णिनीषु ।

प्रत्यारम्भक

एतेन प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः ॥९॥

अर्थ–पूर्वोक्त कथन से प्रत्यारम्भक की भी व्याख्या हो गई ।

विवेचन–प्रारंभक के चार भेद बताये हैं, वही चार भेद प्रत्यारंभक के भी समझने चाहिये । इस प्रकार एक-एक प्रारंभक के साथ चारों प्रत्यारंभकों का विचार हो तो वाद के सोलह भेद हो सकते हैं । किन्तु जिगीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का जिगीषु के साथ, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ और केवली का केवली के साथ वाद होना संभव नहीं है; इसलिए चार भेद कम होने से वाद के

अंग-नियम

तत्र प्रथमे प्रथमतृतीयतुरीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यतमस्याप्यपाये जयपराजयव्यवस्थादिदौःस्थ्यापत्तेः ॥१०॥

अर्थ–पूर्वोक्त चार प्रारंभकों में से पहले जिगीषु के होने पर जिगीषु, परत्रतत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी और केवली प्रत्यारंभक का वाद चतुरंग होता है। किसी भी एक अंग के अभाव में जय-पराजय की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती।

विवेचन–वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति, वाद के यह चार अंग होते हैं। जिगीषुवादी के साथ उक्त तीन प्रतिवादियों का वाद हो तो चारों अंगों की आवश्यकता है।

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद्द्व्यङ्गः, कदाचित् त्र्यङ्गः॥११॥

अर्थ--दूसरे वादी-स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का तीसरे प्रतिवादी–क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु का वाद कभी दो अंग वाला और कभी तीन अंग वाला होता है।

विवेचन--स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु जय-पराजय की इच्छा से वाद में प्रवृत्त नहीं होता, अतः उसके साथ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी का वाद होने पर सभ्य और सभापति की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभ्य और सभापति जय-पराजय की व्यवस्था और कलह आदि की शान्ति करने के लिये होते हैं। अलबत्ता जब क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु तत्त्व का निर्णय न कर सके तो दोनों को सभ्यों की आवश्यकता होती है। इसीलिये कभी दो अंग वाला और कभी तीन अंग वाला वाद बतलाया गया है।

सभ्यों का लक्षण

प्रारम्भकप्रत्यारम्भकावेव मल्लप्रतिमल्लन्यायेन वादिप्रतिवादिनौ ॥१६॥

अर्थ--मल्ल और प्रतिमल्ल की भांति प्रारंभक और प्रत्यारंभक क्रम से वादी और प्रतिवादी कहलाते हैं।

वादी-प्रतिवादी का कर्त्तव्य

प्रमाणतः स्वपक्षस्थापनप्रतिपक्षप्रतिक्षेपावनयोः कर्म ।

अर्थ--प्रमाण से अपने पक्ष की स्थापना करना और विरोधी पक्ष का खण्डन करना वादी और प्रतिवादी का कर्त्तव्य है।

विवेचन--केवल अपने पक्ष की स्थापना कर देने से या केवल विरोधी पक्ष का खंडन कर देने से तत्त्व का निर्णय नहीं होता। अतः तत्त्वनिर्णय के लिए दोनों को दोनों कार्य करना चाहिए

सभ्यों का लक्षण

वादीप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्व-धारणा बाहुश्रुत्यप्रतिभा-क्षान्ति माध्यस्थ्यैरुभयाभिमताः सभ्याः ॥१८॥

अर्थ--जो वादी और प्रतिवादी के सिद्धान्त-तत्त्व में कुशल हों; धारणा, बहुश्रुतता, प्रतिभा, क्षान्ति और मध्यस्थता से युक्त हों तथा वादी और प्रतिवादी द्वारा स्वीकार किये गये हों, ऐसे विद्वान् सभ्य होते हैं।

सभ्यों का कर्त्तव्य

वादिप्रतिवादिनोर्यथायोगं वादस्थानककथाविशेषाङ्गीकारणाग्रवादोत्तरवादनिर्देशनं साधकबाधकोक्तिगुणदोषा-

विवेचन—वादी-प्रतिवादी और सभ्यों के कथन का निश्चय करना तथा वादी और प्रतिवादी में अगर कोई शर्त हुई हो तो उसे पूर्ण करना अथवा पारितोषिक वितरण करना सभापति का कर्त्तव्य है।

वादी-प्रतिवादी के बोलने का नियम

सजिगीषुकेऽस्मिन् यावत्सभ्यापेक्षं स्फूर्तौ वक्तव्यम्।२२।

अर्थ—जब जिगीषु का जिगीषु के साथ वाद हो तो हिम्मत होने पर जब तक सभ्य चाहें तब तक बोलते रहना चाहिए।

विवेचन—जब तक वादी प्रतिवादी में से कोई एक स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण करने में असमर्थ नहीं होता तब तक किसी विषय का निर्णय नहीं होता। इस अवस्था में वादी-प्रतिवादी को अपना वक्तव्य चालू रखना चाहिए। जब सभ्य बोलने का निषेध करदें तब बंद कर देना चाहिए। यह जिगीषु वाद के लिए है।

उभयोस्तत्त्वनिर्णिनीषुत्वे यावत्तत्त्वनिर्णयं यावत्स्फूर्ति च वाच्यम् ॥२३॥

अर्थ—दोनों वादी प्रतिवादी यदि तत्त्वनिर्णिनीषु हों तो तत्त्व का निर्णय होने तक उन्हें बोलना चाहिए। अगर तत्त्व-निर्णय न हो पावे और वादी या प्रतिवादी को आगे बोलना न सूझ पड़े तो जब तक सूझ पड़े तब तक बोलना चाहिए।

६ । किं तावद् वचनलक्षणम् ? किं तस्यात्र प्रयोजनम् ? किञ्च शब्दलक्षणं तत्प्रामाण्यञ्च ? तत् सर्व्वं सूत्रमुल्लिख्य व्याकरणीयम्

७ । "इतरथापि संवेदनात्" ; "विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेः" ; "तद्विपरीतस्तु विकलादेशः"–एषां सूत्राणां संगतिप्रदर्शनपूर्व्वकं व्याख्यानं कुर्व्वन्तु श्रीमन्तः ।

८ । "यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्" ; प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद्भेदः"–अनयोः सूत्रयोः संगतिं प्रदर्श्य व्याख्यानं कार्य्यम् ।

९ । व्याप्तेः तर्काभासस्य च लक्षणमुद्धृत्य व्याख्यायताम् ।

१० । प्रत्यभिज्ञान–स्मृत्योश्च लक्षणं प्रदर्श्य सोदाहरणं व्याक्रियताम् ।

सन् १९२१

पूर्णसंख्या–१०० । समयः १२–४ ।

(सर्वे प्रश्नाः समानमानार्हाः । पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्याः)

१ । स्याभिमतप्रमाणयोर्द्वयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः यया रीत्या अन्येषां प्रमाणानाम् अन्तर्भावः सा रीतिः प्रदर्शनीया ।

२ । अवायः ; व्यपदेशः ; अनवगतिप्रसंगः ; विकलम्; केवलज्ञानम् ; भिन्नलक्षणत्वादिः ; प्रसिद्धो धर्मी, इत्येतेषां पदानां लक्षणज्ञापकानि सूत्राणि समुल्लिख्य व्याख्यायन्ताम् ।

३ । सादृश्य-ज्ञान–स्मरण–अभावानां स्वमते कस्मिन् प्रमाणे अन्तर्भावः ? तद् विशदरीत्या लेख्यम् ।